

## लड़ाई जारी है



भारतीय प्रजातंत्र में वयस्क नागरिकों को सबसे ज्यादा स्वतंत्रता चुनाव के दिन मिलती हुई लगती है। परंतु एक से दूसरे आम चुनावों के बीच के अंतराल में हमारी स्वतंत्रता कहाँ खो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें स्वतंत्रता के विचार को चार भागों में बांटना होगा।

स्वतंत्रता का सबसे पहला पक्ष राजनैतिक है। यह अधिकार चुनाव, आवास, अभिव्यक्ति एवं दमनकारी नीतियों के विरोध में शांतिपूर्ण प्रदर्शन से जुड़ा हुआ है।

भारत में आवागमन एवं आवास की स्वतंत्रता पर्याप्त है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित दिखाई देती है। देश का कोई भी व्यक्ति या समूह किसी फिल्म, भाषण, वक्तव्य, पोस्टर आदि का विरोध यह कहकर शुरू कर देता है कि अमुक अभिव्यक्ति ने उसकी संवेदनाओं को आघात पहुँचाया है। भारत सरकार राजनैतिक स्वतंत्रता देने को बाध्य है, परंतु राजनेताओं के वर्चस्व में वह तोड़-मरोड़ दी गई है। मीडिया पर बहुत दबाव है। सबरंग ट्रस्ट, लॉयर्स कलेक्टिव जैसी सामाजिक संस्थाओं पर छापे डलवाकर एवं उनके आय के साधनों पर रोक लगाकर उन्हें दबा दिया जाता है। अहिंसक सत्याग्रदियों को देश-विरोधी कहकर जेल में डाल दिया जाता है। अपनी शक्ति का भरपूर दुरुपयोग करके राजनैतिक दल स्वतंत्रता को जंजीरों में जकड़ रहे हैं। क्या ऐसी स्वतंत्रता मायने रखती है?

दूसरा पक्ष आता है- आर्थिक स्वतंत्रता का। हम देखते हैं कि पचास और साठ के दशक में आर्थिक स्वतंत्रता की बहुत अधिक सीमाएं थीं। सी. राजगोपालचारी ने तो हमारे आर्थिक तंत्र को 'लाइसेंस-परमिट-कोटा-राज' ही नाम दे दिया था। एक उद्यमी के लिए छोटे-छोटे अनेक सरकारी अवरोध थे। सन् 1990 के आर्थिक उदारीकरण ने स्थिति को अपेक्षाकृत बेहतर बना दिया। इसके द्वारा उद्यमियों को मनचाहा उद्योग अपनाने एवं वैश्वीकरण से जुड़ने की पूरी छूट दी गई। निः संदेह आज भारतीय व्यापारियों को काफी स्वतंत्रता मिली हुई है।

आर्थिक विस्तार के साथ ही हमारी जाति आधारित पेशे की परंपरा टूटी। बड़े शहरों में प्रवास के साथ ही नई पीढ़ी अपनी योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने को स्वतंत्र हो गई। अब यह आवश्यक नहीं रहा है कि मोची का बेटा मोची ही बने। नए आयाम मिलने से जीवन-स्तर में सुधार हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत की सामाजिक व्यवस्था के दो आधार रहे हैं। पहला है- जाति और दूसरा है घर के पुरुष मुखिया का आधिपत्य। ये दोनों ही आधार प्रजातंत्र के विरोधी हैं। प्रजातंत्र तो अपने सभी नागरिकों को जाति, धर्म

एवं लिंग से परे समान समझता है, और किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता। हिंदू धर्मग्रन्थों में दलितों को निकृष्ट स्थान पर रखा गया। मुसलमानों और हिंदुओं दोनों ने ही को सदैव हीन समझा। संविधान में इन स्थितियों को पलटने की कोशिश की गई। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा हुआ है? वास्तविक धरातल पर दलितों को आरक्षण दिए जाने के बाद भी उनकी सामाजिक स्थिति अधिक बदली नहीं है और न ही महिलाओं की। दैनिक जीवन में आज भी दोनों के साथ बहुत भेदभाव किया जाता है। आई पी सी की धारा 377 के तहत आज भी समलैंगिक सैक्स को अपनाने वालों को प्रताड़ित किया जा सकता है। यह हमारे प्रजातंत्र पर धब्बा है।

जहाँ तक सांस्कृतिक स्वतंत्रता की बात है, विसंगतियां दिखाई पड़ती हैं। यू तो संविधान हमें अपनी पसंद के ईश्वर या मत को मानने की पूरी छूट देता है, पर संवैधानिक स्वतंत्रता केवल सैद्धांतिक है। व्यवहार में स्थिति कुछ और ही है। सांप्रदायिक दंगों के दौरान हिंदु बहुल क्षेत्रों में मुस्लिम और मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में हिंदुओं का जीना दूभर हो जाता है। विश्वव्यापी आतंकवाद के चलते भारतीय मुसलमानों को अपने लिए किराए का मकान लेना मुश्किल हो गया है। उन्हें शक की नजरों से देखा जाता है।

भाषा के स्तर पर सांस्कृतिक, स्वतंत्रता पर्याप्त है। 'एक देश-एक भाषा' की आवाज बीच में जोरों पर थी, परंतु इसे स्वीकार नहीं किया जा सका और यह भारतीय प्रजातंत्र को मिली एक बड़ी उपलब्धि थी।

हमारे खानपान और वेशभूषा के भी कई पहरेदार हैं। समाज का एक वर्ग गौरक्षा के नाम पर अब यह बताने लगा है कि किसे क्या खाने और नहीं खाने का अधिकार है। इसी प्रकार लड़कियों की वेशभूषा को लेकर अचानक ही कमी कोई सामाजिक वर्ग विरोध में खड़ा हो जात है, तो कभी कोई राज्य सरकार उनके लिए कानूनी पहरा लगा देती है।

आज स्वतंत्रता के उनहत्तर वर्षों के बाद हम भारतीय यद्यपि अंग्रेजों के शासनकाल से अधिक स्वतंत्र हैं, लेकिन हमारे संविधान निर्माताओं की उम्मीदों के अनुरूप स्वतंत्र नहीं हैं। हमारी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रताएं कमोवेश जकड़ी हुई हैं। मंजिल अभी दूर है।

'इंडियन एक्सप्रेस' में श्री रामचंद्र गुहा के लेख पर आधारित।

टीप- श्री गुहा भारत के अत्यंत प्रतिष्ठित इतिहासकारों में से एक हैं।